शिव सूत्र

(ऋज्वर्थ बोधिनी संस्कृतवृत्ति तथा सरलार्थ बोधिनी हिन्दी टीका)

स्पन्द कारिका

(हिन्दी टीका)

□

ॐ

श्री

प्रकाशक :

पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्

दतिया (म० प्र०)

प्रथम संस्करण

१०००

□

मूल्य

रु. १.५०

मुद्रक : साधना प्रेस, ग्वा.-१

त्रिकदर्शनात्मकं

शिवसूत्रम्

राष्ट्रगुरु १००८ श्री पीताम्बरा पीठस्थ
श्री स्वामि रचित

ऋज्वर्थ बोधिनी (संस्कृत)
वृत्ति सहितम्

तथा

सरलार्थ बोधिनी (हिन्दी)
टीका सहित

प्रकाशकीय

भगवती श्री पीताम्बरा माता की कृपा से श्री शिव तत्व प्रतिपादक शिवसूत्र एवं स्पन्द कारिका हिन्दी टीका सहित प्रकाशित करने में यह परिषद् परमामोद का अनुभव करती है। इस शिवसूत्र की हस्तलिखित प्राचीन प्रति पूज्य आचार्य चरण के अनन्य सेवक श्री कु. बलवीर सिंह जी से प्राप्त हुई थी जिस पर उन्होंने संस्कृत की सुबोध एवं सरल वृत्ति की रचना की। एवं भक्तिसूत्र सहित शिवसूत्र भक्तिसूत्र के नाम से परिषद् प्रकाशित कर चुकी हैं।

पूज्यपाद से अध्ययन कर श्री किशोरी शरण चौदा ने संस्कृत वृत्ति की हिन्दी टीका की। श्री वेणीमाधव अश्विनी कुमार शास्त्री ने भूमिका लेखन तथा मुद्रण कार्य की देख-रेख का कार्य सम्पादन किया। हिन्दी टीका के निर्माण में भी श्री शास्त्री का प्रशंसनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण प्रकाशन व्यय श्री चौदा जी ने सहर्ष वहन कर परिषद् को उपकृत किया है। यद्यपि सभी महानुभाव परिषद् के पारिवारिक सदस्य हैं तथापि शिष्टाचार का निर्वाह करते हुए उन्हें आभार प्रदर्शनपूर्वक कोटिशः धन्यवाद देता हूँ।

आशा करता हूँ कि धार्मिक जगत् इस प्रकाशन से भगवान् शिव के स्वरूप से अवगत होकर अपनी उपासना की अभिवृद्धि करेगा।

ब्रजनन्दन शास्त्री

मंत्री

श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद्

दतिया (म. प्र.)

शिव-सूत्र भूमिका

⊙

वैदिक दर्शनों में शैव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। शैव दर्शन का आध्यात्मिक तत्त्व सभी दर्शनों से नातिसंक्षेप विस्तार प्रकार का है। प्रस्तुत शिव-सूत्र ग्रंथ की सरलार्थ बोधिनी भाषा टीका में सूत्रों में गुप्त रहस्य को स्थूलतया सर्व श्रद्धालुओं के हित की दृष्टि से प्रकाशित किया जा रहा है। शिव-सूत्रों को शैव दर्शन की भूमि "कश्मीर" देश में होने से कश्मीर-सूत्र के नाम से भी जाना जाता है। कश्मीर देश में 'शंकरोपल" नामक शिलाखण्ड के आख्यान के आधार पर शिव-सूत्र के रचयिता आचार्य वसुगुप्त को श्रीशंकर भगवान् ने उपदेश किया, वसुगुप्त से कल्लटाचार्य ने तथा कल्लट से भास्कराचार्य ने इस गूढ़ दार्शनिक तत्त्व को ज्ञात किया था।

शिव-सूत्रों में शाम्भव शाक्त एवं आणव तीन प्रकरण हैं। शैव-दर्शन का सम्पूर्ण रहस्य इन तीनों प्रकरणों में लिपिबद्ध है इसलिए इन्हें "त्रिक-दर्शन" भी कहा जाता है। प्रथम शांभव प्रकरण में शिव रूप अलौकिक समाधि सुख योगियों द्वारा अनुभव किया गया है, अतः योग की परावस्था इसमें वर्णित है। चंचल मन की बाह्य वृत्तियों को मंत्रादि उपासना से संयमित कर पराशक्ति भगवती के अनुग्रह से योगी पराद्वैत अनुभव करता है, यह द्वितीय शाक्त प्रकरण में वर्णित किया गया है। तृतीय आणव प्रकरण में आत्मा, माया आदि विषयों का निरूपण किया गया है तथा इसके अनुसार योगी मोह का त्यागकर क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थात्रय को पारकर पूर्णता (चैतन्य साक्षात्कार) को

प्राप्त कर लेता है, यह उपन्यस्त किया गया है। शिव-सूत्रों में वर्णित योगतत्त्व अन्य सभी योग संप्रदायों से विचित्र एवं सिद्धिदायक है।

शिव-सूत्र जैसे शैव-दर्शन के अति गूढ़ तत्त्व-ग्रंथ पर तत्त्ववेत्ता आचार्य भास्कर ने "वार्तिक" टीका तथा श्री क्षेमराज ने "विमर्शिनी" टीका लिखी है। किन्तु उक्त दोनों ही टीकाएँ साधारण बुद्धिजनों के लिए दुर्गम हैं। अतः पूज्यपाद राष्ट्रगुरु श्री १००८ श्री पीताम्बरा पीठस्थ स्वामीजी महाराज ने "ऋज्वर्थबोधिनी" टीका साधारण बुद्धिजनों के ज्ञानार्थ प्रस्तुत की। पूज्यपाद की इसी टीका को आधार मानकर आधुनिक श्रद्धालुओं के ज्ञानार्थ प्रस्तुत **सरलार्थ बोधिनी** हिन्दी टीका माँ पीताम्बरा की कृपा से पूर्ण की जा सकी है।

दर्शन जैसे दुर्बोध एवं आत्मचैतन्य व्यापक विषय की वस्तु विषय बोधक टीका करना यथार्थतः अत्यन्त दुष्कर कार्य है तथापि माँ पीताम्बरा द्वारा प्रदत्त प्रेरणा से स्वल्पबुद्धि कृत प्रयास मात्र किया जा सका है। भक्त एवं विचारक हंसोदक विधान से इसका सार ग्रहण करेंगे, ऐसी प्रार्थना है।

प्रस्तुत शिव-सूत्र सरलार्थ बोधिनी हिन्दी टीका तथा इसी ग्रंथ में संलग्न शाक्तदर्शन का अनुपम ग्रंथ "स्पन्दकारिका" की हिन्दी टीका का समस्त प्रकाशन भार माँ की प्रेरणा प्राप्त कर श्री गुरुदेव के आशीर्वाद से श्री किशोरी शरण बउदा ने वहन किया है। एतदर्थ माँ से उनके कल्याण की शुभ कामना है।

श्री गुरु पूर्णिमा २०३१

वेणीमाधव अश्विनीकुमार शास्त्री

शिव-सूत्र

ऋज्वर्थबोधिनी संस्कृत वृत्ति एवं
सरलार्थ बोधिनी हिन्दी वृत्ति सहित

प्रथम उन्मेष – शाम्भवोपायः

शिवसूत्रप्रतिपाद्यस्य परमलक्ष्यस्याधारभूतं चेतनस्वरूपं परमात्मतत्त्वं तदाह—चैतन्यमिति।

शिव-सूत्र से प्रतिपाद्य परमलक्ष्य का आधारभूत चेतनस्वरूप जो परमात्मा है, उसे पहले सूत्र से बताते हैं।

१. चैतन्यमात्मा

चेतयते इति चेतनस्तस्य भावश्चैतन्यमात्मनः स्वरूम्। शरीर-प्राण-मन-इन्द्रियाणां संघातः, पृथक्-पृथग्वा आत्मा भवितुं नार्हति, प्रत्युत यस्मिन्नेतानि-प्रतिभान्ति स आत्मा एतेभ्यः परश्चेतनस्वरूपोऽस्ति ॥१॥

यदि आत्मा चेतनस्तर्हि कथं बन्धकोटौ निक्षिप्त इत्यत आह—ज्ञानमिति।

चैतन्य मात्र जो चेतना प्रदान करता है उसे ही चेतन कहते हैं। चेतन का भाव चैतन्य है और वही आत्मा का स्वरूप है। शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियों का समुदाय या प्रथक्-प्रथक् ये सब आत्मा नहीं हो सकते, अपितु जिसमें इन सबका प्रतिभास होता है, अर्थात् जिसमें यह सब भासते हैं, वही आत्मा है जो इन सब को प्रकाशित करता है तथा इन सबसे परे चेतनस्वरूप है।

यदि आत्मा नित्य चेतनस्वरूप है तो बन्ध कोटि में क्यों आया? इसलिये कहते हैं—

२. ज्ञानं बन्धः

मनसा इन्द्रियाणि संयुज्य यानि वृत्तिरूपाणि ज्ञानानि भावयन्ति जनयन्ति तान्यसौ चेतनः अनुभवति तदेव ज्ञानं बन्धपदवाच्यं भवति। केचिदकारप्रश्लेषेणा-ज्ञानमिति कथयन्ति ॥२॥

तस्य त्रैविध्यमाह—योनिवर्ग इति ।

मन के साथ इन्द्रियों का संयोग होकर जो वृत्तिरूप ज्ञान होते हैं उनको ये आत्मा अनुभव करता है । ये ज्ञान ही बन्ध पद से कहा जाता है । कोई आत्मा शब्द के आगे अकार का प्रश्लेष निकाल कर के 'अज्ञान' को बन्ध कहते हैं ।

यह बन्ध तीन प्रकार का है, जिसे आगे के सूत्र से बताते हैं —

३. योनिर्वर्गः कला शरीरम्

एतेषु ज्ञानेषु निवृत्तेषु सत्सु बन्धोऽपि निवर्तते । स त्रिविधः । योनिः मायीयमलमावरणात्मकमाणवमलमिति निजैश्वर्यनिरोधकं कथयन्ति, पञ्चभूत-विस्तारभोगप्रदातारः संस्काराः कला, पुण्यपापात्मकानि शरीराणि च । इमान्येव बन्धनानि ज्ञानमिति एषां वर्गः समुदायपदेनोच्यते ॥३॥

तस्य ज्ञानस्याधिष्ठानमाह—ज्ञानाधिष्ठानमिति ।

योनिवर्ग, कला, शरीर—यह तीन मल हैं, इस ज्ञान समूह से निवृत होने पर बन्ध भी निवृत्त हो जाता है । यह बन्ध तीन प्रकार का है । योनि अर्थात् मायीय मल, आवरणात्मक आणव मल, जो निज स्वरूप को निरोध करता है । पञ्चभूत विस्तार भोग को देने वाले संस्कार ही 'कला' कहे जाते हैं, यह तीसरा पुण्य-पापात्मक मल है जिससे शरीर होते हैं । यही बन्धन हैं जिन्हें ज्ञान कहते हैं । इनका समुदाय ही यहां वर्ग पद से कहा गया है ।

४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका

एषां पूर्वोक्तानां त्रिविधानां ज्ञानानामधिष्ठानमाधारः मातृका—अकारमा-रभ्य क्षकारपर्यन्ता शब्दमयीवर्णमाला शब्दब्रह्मेत्युच्यते । उक्तं च "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुबिद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥" (वा० प०) । अनयैवान्तरनुसन्धानराहित्येन बहिर्मुखानि ज्ञानानि जायन्ते स एव बन्धः ॥४॥

बन्धनिवृत्युपायमाह—उद्यम इति ।

ज्ञान का आधार वर्णमाला है । "नसोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुबिद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥" (वाक्पदी) — इस लोक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो शब्द से अनुगत न हो । शब्द से बिद्ध यह सारा विश्व शब्द से ही प्रकाशित है । इसी के द्वारा अन्तरानुसन्धान रहित जो बहिर्मुख ज्ञान है उसे ही बन्ध कहते हैं ।

बन्ध के निवृत्ति का उपाय कहते हैं—

५. उद्यमो भैरवः

उक्तबन्धनिवृत्यर्थं पूर्णाहन्ताया अहमेव सर्वमितिरूपायाः समुद्यो विकल्प सामस्त्यनाशकः अन्तःस्पन्दरूपो भैरव इत्युच्यते; "भैरवोऽहम्, शिवोऽहम्" इति प्रथनात् ॥५॥

तत्फलमाह—शक्तिचक्र इति।

उद्यम अर्थात् प्रयत्न ही भैरव है। उक्त बन्ध की निवृत्ति के लिये जो पूर्णाहंता भाव है, अर्थात् 'मैं ही सर्वरूप हूं' ऐसा जिसका स्वरूप है। यही विकल्पों का नाशक तथा अन्तःस्पन्द रूप होने से इसे भैरव कहते हैं। 'भैरवोऽहं, शिवोऽहं'।

आगे इसके फल को कहते हैं—

६. शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहारः

उक्तविशेषणविशिष्टे भैरवे एका महतीशक्तिर्भैरवी तस्याः प्रसृतरूपानुसन्धानेन स्वसंविद्रूपाग्नौ विश्वः संहृतिमुपयाति ॥६॥

अनुभूतिदाढ़्यंमाह—जाग्रद् इति।

उक्त विशेषण विशिष्ट भैरव में एक महान् शक्ति भैरवी है। विस्तृत रूप के अनुसन्धान से स्वसंविद् रूप अग्नि में विश्व का संहार, अर्थात् लय हो जाता है।

अनुभूति की दृढ़ता पर कहते हैं—

७. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदे तुर्याभोगसम्भवः

तस्य योगिन ईदृशी अनुभूतिर्जागर्ति तस्य जाग्रति स्वप्ने सुषुप्तौ तथा आसामवस्थानां भेदेऽपि तुर्याभोगः अर्थात् पराऽऽनन्दानुभूतिः सञ्जायतेभेदेऽपि अभेदप्रत्ययो निराबाधः प्रवर्तते इत्यर्थः ॥७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के भेद होने पर भी तुर्याभोग, यानी परमानन्द की अनुभूति होती है। भेद में भी अभेद ज्ञान नित्य या निरन्तर ही रहता है या वर्तता है।

८. ज्ञानं जाग्रत्

इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्षोद्भूतं ज्ञानं जाग्रदित्युच्यते ॥८॥

इन्द्रिय और विषय के संयोग से होने वाले ज्ञान को जाग्रत् कहते हैं।

९. स्वप्नो विकल्पः

मनोमात्रजन्यासाधारणार्थविषयविकल्पः स्वप्नः। स्वात्मनि स्वेनैव विकल्पनं स्वप्नोवेति ॥९॥

मन मात्र से उत्पन्न होने वाले असाधारण विषय-विकल्प ही स्वप्न हैं, अर्थात् अपनी आत्मा में अपने आप से ही उत्पन्न विकल्प स्वप्न हैं।

१०. अविवेको माया सौषुप्तम्

स्वात्मानं विस्मृत्य यः अविवेकोदयो मायात्मकः साऽवस्था सुषुप्तिः। अविवेकः विवेचनाभावः—अज्ञानम्, एतदेव मायामयं सौषुप्तम् इति सूत्रार्थः ॥१०॥

जिसमें अपना ही बोध न हो ऐसा मायात्मक अविवेक, अर्थात् मोह ही सुषुप्ति है। विवेचना का अभाव ही अविवेक है।

११. त्रितयभोक्ता वीरेशः

एषु त्रिषु यत्तुरीयानन्दमभेदात्मकम् आस्वादयति स वीरेशः। यतो वीराणामपि भेदबन्धने प्रक्षेप्त्री सा शक्तिर्बाह्याभ्यन्तरे प्रसरणशीलानामिन्द्रियाणाञ्च स अधीश्वरः। उक्तञ्च श्रीगौड़पादैः—

त्रिषुधामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
विद्यात्तदुभयं वस्तु सम्भुञ्जानो न लिप्यते। इति ॥११॥

इन तीनों अवस्थाओं में जो अभेदात्मक तुरीयानन्द का आस्वादन करता है वही 'वीरेश' है। भेद-बन्धन में डालने वाली जो बाह्य और अन्तरप्रसरण करने वाली इन्द्रियां हैं उनका वह वीर अधीश्वर होता है। श्री गौड़पाद में कहा है कि 'जाग्रदादि तीनों धामों में जो भोग्य है तथा जो इनका भोक्ता है, इन को जानने वाला इनको भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता है।'

१२. विस्मयो योगभूमिका

आनन्दं प्राप्य मनुष्यो यथा विस्मयते तथा निरन्तरं योगिनोऽपि अद्भुत परमानन्दस्यानुभूतिः सञ्जायते। इयं योगभूमिः। सम्यगात्मनि युञ्जन् एव सम्पद्यते। अलौकिकोऽयं विषयः परतत्त्वैक्याध्यारोहविश्रान्तिरूपः ॥१२॥

योगभूमि आश्चर्य रूप है। आनन्द प्राप्त करके जैसे मनुष्य विस्मय अथवा एक विलक्षण अवस्था को प्राप्त होता है, इसी प्रकार की योगियों को निरन्तर

परमानन्द की अनुभूति होती है। यह योगभूमि आत्मा से सम्यक् योग प्राप्त करने पर प्राप्त होती है। परतत्त्व में एकाकार रूप आरोह से विश्रान्ति रूप यह अलौकिक विषय है।

१३. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी

उक्तपूर्णावस्थां प्राप्तस्य योगिनः इच्छाशक्तिः परैव पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य-रूपाविश्वसर्गसंहारपरा उमा कुमारीति उच्यते—"कुं मारयतीति कुमारी" अज्ञान-निवर्तिकेतियावत् ॥१३॥

उपरोक्त पूर्णावस्था प्राप्त योगी की इच्छाशक्ति परा परमेश्वरी विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने वाली उमा कुमारी कही जाती है। 'कुं' अर्थात् अज्ञान को मारने वाली होने से उसे कुमारी कहते हैं, क्योंकि उसका स्वरूप अज्ञान निवर्तक है।

१४. दृष्य शरीरम्

तद्युक्तस्य योगिनो निखिलं प्रपञ्चजातं दृश्यं शरीरं भवति ॥१४॥

इस इच्छाशक्ति से युक्त हो जाने पर योगी का निखिल प्रपंच युक्त दीखने वाला शरीर बन जाता है।

१५. हृदये चित्तसङ्घट्टाद्दृश्यस्वापदर्शनम्

विश्वस्य महदायतनं तस्य योगिनो हृदयं भवति। चित्तसङ्घट्टनेन नाना दृश्याविर्भावः स्वप्नवत् प्रतीयते ॥१५॥

इससे विश्व का महान् आयतन उसका हृदय बन जाता है तथा इसमें चित्त के सङ्घट्टन (संयोग) से जो नाना दृश्य होते हैं, वह उसे स्वप्नवत् दीखते हैं।

१६. शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्वा अपशुशक्तिः

अस्मिन् प्रपञ्चे शुद्धतत्त्वस्य शिवस्यानुसन्धानाद् भावनाकरणाद् अपशुशक्तिः पशुत्वनिवृत्तिः। जगत्पतिः सदाशिवो भवति। "शुद्धतत्त्वानुसन्धानाद्" इत्येव केषाञ्चिन्मते पाठः ॥१६॥

इसी प्रकार प्रपञ्च में शुद्ध तत्त्व की, अर्थात् शिवात्मक भावना करने से भी बन्धनात्मक पशुशक्ति नष्ट हो जाती है, तथा योगी सदाशिव के समान जगत्पति बन जाता है।

१७. वितर्क आत्मज्ञानम्

अहं विश्वात्मा शिवोऽहमिति मन्यमानो योगी आत्मज्ञानवान् भवति। अहं विश्वात्मेति वितर्क उच्यते चिन्तनमिति च व्यपदिश्यते ॥१७॥

'मैं विश्वात्मा शिव ही हूं' ऐसा मानने वाला योगी आत्मज्ञानवान् होता है। 'मैं विश्वात्मा हूं' इसी का नाम वितर्क है।

१८. लोकानन्दः समाधिसुखम्

अहमेव द्रष्टा, दृश्यं, दर्शनञ्चास्मि, अहमेवेदं सर्वमित्यनुभवन् लोकानन्दे निमज्जति समाधिसुखं प्राप्नोति ॥१८॥

इस प्रकार योगी अपने को ही दृष्य, दर्शन और द्रष्टा रूप में देखता है। 'मैं ही सर्व रूप हूं' इस प्रकार से लोकानन्द में ही समाधि सुख को प्राप्त होता है। ग्राह्य और ग्राहक की संवित्ति तो सामान्यत: सभी प्राणियों को होती है परन्तु योगी इस सम्बन्ध में सावधानतापूर्वक आत्मभाव रखता है।

१९. शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः

उमा कुमारीति या शक्तिः पूर्वोक्ता तदनुसन्धानेन तन्मयत्वं यदा गच्छति योगी तदा तया स्वेच्छया शरीरमुत्पादयति ॥१९॥

उपरोक्त उमा कुमारी इच्छाशक्ति के अनुसन्धान से योगी की भावना तन्मयी हो जाती है तो वह उसके द्वारा अपनी इच्छानुसार शरीर धारण कर सकता है।

२०. भूतसन्धानभूतपृथक्त्वभूतसंङ्घट्टाः

एवंभूतो योगी अनुसन्धानेन पञ्चभूतेष्वात्मभावं गच्छति येन भूतान्यावरणरहितानि भवन्ति। भूतपृथक्त्वेन नानाव्याधीन् क्लेशांश्च शमयति विश्वसङ्घट्टनेन यौगिकसामर्थ्येन नूतनं विश्वं निर्माति ॥२०॥

ऐसा योगी भूत-सन्धान, अर्थात् पञ्चभूतों में आत्मभाव कर लेता है जिससे यह उसके आवरण रूप नहीं रहते। भूतों के प्रथकत्व से नानाप्रकार की व्याधियों और क्लेशों को क्षण भर में शान्त करता हुआ योगी नवीन विश्व का निर्माण कर सकता है।

२१. शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः

परिमित सिद्धिं विहाय योगी परां सिद्धिमिच्छति तदा अखिलं विश्वमहमेव इत्याकारा बुद्धिः शुद्धा निर्मला विद्या उदेति । तया चक्रेशत्वसिद्धिः । महैश्वर्यं प्राप्नोति । "ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः । सामानाधिकरण्यञ्च सद्विद्याहमिदं धियोः" ॥इति॥ इयमेव शुद्धविद्या ॥२१॥

जब परिमित सिद्धि की इच्छा को त्याग कर योगी विश्वात्मक रूप 'परा मैं सिद्धि' की इच्छा करता है तो 'अखिल विश्व में ही हूं' इस प्रकार की निर्मला विद्या उदय होकर उसे चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति होती है । 'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः' अर्थात् 'यह सब मैं ही हूं' इस प्रकार की बुद्धि ही सद्विद्या है ।

२२. महाह्लदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः

महायोगी विश्वात्मिकामवस्थामुत्तीर्य स्वात्मन्येव रमते तदा देशकालादिभ्योऽपरिच्छिन्नो जगद्व्यापी यो महाह्लदः—स्वच्छत्वादावरणरहितवाद् गम्भीरत्वाच्च महाह्लद इति संज्ञा तदनुसन्धानेन पूर्णाहन्ताया वीर्यमनुभवति ॥२२॥

जब योगी इस विश्वात्मक अवस्था से उत्तीर्ण होकर स्वात्माराम हो जाता है तब देश-कालादि से अपरिच्छिन्न जगद्व्यापी महाह्लद के अनुसन्धान से पूर्णाहन्ता रूप मन्त्र वीर्य का उसे अनुभव होता है । स्वच्छ आवरण रहित महागम्भीर ही महाह्लद है, उसे अनुसन्धान से पूर्णाहन्ता रूप वीर्य की अनुभूति होती है ।

इति शाम्भवोपायः प्रथमोन्मेषः समाप्तः ।

द्वितीय उन्मेष—शाक्तोपायः

तीव्रशक्तिपातवतां साधकानां कृते पूर्वोन्मेषोक्ततत्त्वोपदेशः । मध्यमाधिकारिणोऽपि तत्त्वज्ञानवन्तःस्युरिति द्वितीयोन्मेषस्यारम्भः तदेवाह—चित्तमिति ।

तीव्रशक्तिपात आघात प्राप्त साधकों के लिये पूर्व उन्मेष में कथित तत्त्व का उपदेश है । अब मध्यम अधिकारी के लिये तत्त्व-ज्ञान के प्राप्ति का मार्ग बताते हैं । इसका पहला सूत्र—

१. चित्तं मन्त्रः

शक्तिः मन्त्रस्वरूपा अत एवेदानीं मन्त्रं कथयति—येनात्मतत्त्वं चिन्तयते तदेव चित्तम्, तदेव स्वस्वरूपमननहेतुत्वान्मन्त्र इत्युच्यते। उक्तञ्च—

"स्वात्मानुभवधर्मित्वात् स मन्त्र इति गीयते।" ॥१॥

तत्कथं सिद्ध्येदित्याह—प्रयत्न इति।

शक्ति मन्त्र स्वरूपा है, यह पहले उन्मेष में बताया गया है। अब मन्त्र का स्वरूप बतलाते हैं। जिससे आत्मतत्त्व का चिन्तन होता है, उसे चित्त कहते हैं और वही स्वस्वरूप के मनन के कारण मन्त्र कहलाता है। यह मन्त्र स्वात्मानुभव रूप होता है।

२. प्रयत्नः साधकः

मन्त्रसाधने योऽन्तः प्रयत्नः स साधकः पुनः पुनः बाह्यवृत्तीनामुपसंहरणं शिवतत्त्वे च संयोजनमेव तासां प्रयत्नपदेनोच्यते ॥२॥

इस मन्त्र के अनुसन्धान में अन्तरप्रयत्न ही 'साधक' है। बार-बार बाह्य वृत्ति का शिवतत्त्व में उपसंहार करने का नाम ही प्रयत्न है।

३. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्

परमात्माद्वैतसंवेदनरूपाया विद्यायाः शरीरमखिलशब्दराशिः तस्याल्पाहन्ता पूर्णाहन्ता च सत्ता तत्स्फुरणमेव मन्त्रगुप्तार्थस्योत्पादकमिति रहस्यम् ॥३॥

परम अद्वैत संवेदन रूपी विद्या का शरीर अखिल शब्द राशि है; उसकी अल्पाहन्ता और पूर्णाहन्ता सत्ता है। इसका स्फुरण ही मन्त्र की गुप्तार्थता का उत्पादक है, यह रहस्य है।

४. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः

पूर्वोक्तं मन्त्रवीर्यं महेश्वरेच्छया योगी अनुभवितुं शक्नोति। गर्भे महामायायां शक्त्यां चित्तं विकसति सा अशुद्धा विद्या सा स्वप्नस्वरूपिणी विकल्पप्रत्ययात्मिका भवति ॥४॥

महामाया शक्ति के गर्भ में जो चित्त का विकास होता है वह अशुद्ध विद्या है। वह स्वप्न रूप अर्थात् विकल्प प्रत्ययात्मक है। उपरोक्त प्रकार का मन्त्र-वीर्य जिसका ऊपर महाह्लद् के अनुसन्धान के रूप में वर्णन हो चुका है, महेश्वर की इच्छा से ही हृदयङ्गम हो सकता है।

५. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था

शिवेच्छया परमात्माद्वैतसंवेदनरूपं स्वाभाविकसंवेदनसमुत्थानं भवति। पूर्णानन्दमुच्छ्वसितं कुर्वती मुद्रा खेचरी शिवावस्था भवति। खे गगने चरतीति खेचरी, बोध रूपे गगने चरणशीला अभिव्यज्यते। मुदं हर्षं रातीति मुद्रा। इयं विश्वोत्तीर्णा योगिभिरनुभूयते ॥५॥

तत्कथमुपलभ्यते अत आह—गुरुरिति।

शिव की इच्छा से परमाद्वैत-संवेदन रूप स्वाभाविक संवेदन का समुत्थान होता है, वह सम्पूर्ण स्वानन्द को उच्छ्वासित करने वाली खेचरी मुद्रा शिवावस्था है, तथा बोधरूप आकाश (खे) में विचरण करने के कारण इसे खेचरी कहते हैं। यह विश्वोत्तीर्ण मुद्रा योगी को सम्यक् रूप से अनुभूत होती है। मोद को देने वाली अवस्था को मुद्रा कहते हैं।

इस प्रकार की मन्त्र और मुद्रा की प्राप्ति के लिये जो उपदेश करता है वही गुरु होता है—

६. गुरुरुपाय:

मन्त्रमुद्रयोः प्राप्त्यर्थं य उपदिशति स गुरुरेव उपायः, तेनैव शाम्भवीशक्तिरनुगृह्णाति ॥६॥

ईश्वरानुग्रहात्मिका पराशक्ति ही गुरु है; अर्थात् शिव स्वरूप ही गुरु होता है।

गुरु के द्वारा ही मातृका चक्र का ज्ञान होता है—

७. मातृका चक्रसम्बोध:

ईश्वरानुग्रहात्मिकायाः पराशक्तेः प्राप्त्युपायो गुरुः। गुरुकृपातः मातृकाचक्रस्य सम्बोधः सम्यग् ज्ञानं भवति। वाच्यवाचकात्मकस्य विश्वस्य प्रपञ्चयित्री मन्त्राणां मुख्यं कारणं मातृकैव निश्चिता ॥७॥

ईश्वरानुग्राहात्मिका पराशक्ति की प्राप्ति का उपाय गुरु है। गुरु की कृपा से ही मातृका चक्र का सम्यक् ज्ञान होता है। वाच्यवाचकात्मक विश्व का सृजन करने वाले मन्त्रों का भी मुख्य कारण निश्चयपूर्वक मातृका ही है।

मातृका के ज्ञान से क्या होता है, सो बताते हैं—

८. शरीरं हविः

एवमनुगृहीतस्य योगिनः स्थूलसूक्ष्मादिशरीराणि चिदग्नौ हविर्भवन्ति ॥८॥

इस प्रकार के अनुग्रहीत योगी के स्थूल और सूक्ष्म शरीर चिदाग्नि की आहुति बन जाते हैं।

९. ज्ञानमन्नम्

तदा बोधस्योर्ध्वप्रकाशः प्रज्वलितो भवति तेन योगिनस्त्रिविध पूर्वोक्तं ज्ञानं भवति योगाग्निना दग्धम् ॥९॥

तब बोध का ऊर्ध्वप्रकाश प्रज्वलित हो उठता है और योगी के पूर्वोक्त तीन प्रकार के ज्ञान रूप बन्धन अन्न अर्थात् अग्नि के भक्ष हो जाते हैं, अर्थात् योगाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

आगे के अन्तिम सूत्र से शाक्तोपाय का उपसंहार किया जाता है—

१०. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम्

यदा परमाद्वैतानुभवरूपाया विद्याया अनुत्थानं भवति तदा भेदनिष्ठस्य स्वप्नस्य दर्शनं भवति अत एव योगी विद्यायां सर्वदाऽवहितो भवति ॥१०॥

जब तक परमाद्वैतानुभव रूप विद्या का उदय नहीं होता है तभी तक भेद-निष्ठ स्वप्न, अर्थात् विकल्प का दर्शन होता है। इसलिये योगी विद्या के अवधान अर्थात् विचार में ही सदा मग्न रहता है।

इति शाक्तोपायो द्वितीयोन्मेषः समाप्तः॥

तृतीय उन्मेष—आणवोपायः

उक्तद्वयोन्मेषाभ्यां शिवशक्तिसम्बन्धिनी विवेचना उपस्थापिता, इदानी-मनात्मन्यात्मबुद्धिरनात्मनिचात्मबुद्धिः कथमुत्पद्यते इत्यनयोः प्रवर्तकस्याणु-स्वरूपस्यात्मनो विवेचना प्रस्तूयते—आत्मेत्यादिना।

उपर्युक्त दो उन्मेषों में शिव और शक्ति सम्बन्धी कुछ विवेचना हुई। अब आत्मा में अनात्मा (देह, बुद्धि आदि) तथा अनात्मा में आत्मा का भान किस प्रकार उत्पन्न होता है इन दोनों के प्रवर्तक अणुस्वरूप आत्मा का विवेचन किया जाता है। इसका पहला सूत्र है—

१. आत्मा चित्तम

विश्वस्वभावभूत आत्मैव बुद्धिक्रियाणां संकुचितरूपैश्चित्तं भवति ॥१॥

अणुरूपस्यात्मनः कथं यातायात इत्यत आह—ज्ञानमिति ।

विश्व स्वभावभूत आत्मा ही अपनी स्वतन्त्र चित-शक्ति से मोहित होकर विश्व-स्वभाव-भूत आत्मा ही बुद्धि की क्रिया के संकुचित रूप से चित्त हो जाता है । अणुरूप आत्मा का स्वयं यातायात कैसे होता है, इस सम्बन्ध में आगामी सूत्र लिखते हैं ।

अणुरूप आत्मा किस प्रकार आवागमन करता है—

२. ज्ञानं बन्धः

संकुचिते स्वरूपे आत्मनो भेदाभासरूपं यज्ज्ञानं तदेव बन्धनं भवति । "सत्त्वस्थो राजसस्थश्च तमःस्थो गुणवेदकः । एवं पर्यटते देही स्थानात्स्थानान्तरं व्रजेत्" । इति ॥२॥

आत्मा के स्वरूप के संकोच में भेदाभास रूप जो ज्ञान होता है वह ही बन्धन होता है । सत्त्व, रज एवं तम में स्थित तीनों गुणों का वेत्ता इस प्रकार भ्रमण करता हुआ देही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है ।

बन्धन के कारण को समझाते हुए कहते हैं—

३. कलादीनां तत्त्वानाम् अविवेको माया

किञ्चित्कर्तृत्वादिरूपकलादिक्षित्यन्तानां तत्त्वानां कञ्चुकपुर्यष्टकस्थूल देहत्वेनावस्थितानां योऽविवेकः विवेचनाभावः सा माया । तत्त्वाज्ञानरूपः प्रपञ्चो मायेति वा ॥३॥

कञ्चुकरूप देह में स्थित कला से लेकर क्षति पर्यन्त तत्त्वों के विवेचन का अभाव ही अविवेक है । इसी का दूसरा नाम माया है, अर्थात् तत्त्वों के अज्ञान रूप प्रपंच को माया कहते हैं ।

इस माया का शमन कैसे होता है सो बताते हैं—

४. शरीरे संहारः कलानाम्

शरीरे स्थूले सूक्ष्मे कारणे वा कलानां तत्त्वभागानां पृथिव्यादिशिवान्तानां तत्त्वानां योगी शरीराग्नौ भस्मीभावं नयति लयभावनया ॥४॥

अतः योगी इस माया के प्रशमनार्थ पञ्चभूतात्मक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों का अपने संविद् शरीर रूपी अग्नि में नष्ट, अर्थात् लय कर देता है। यह सब लय भावना से होता है।

५. नाड़ीसंहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथक्त्वानि

नाड़ीनां प्राणवाहिनीनां सुषुम्णायां, भूतानां जयो विलीनतापादनं, भूतकैवल्यं चित्तस्य प्रत्याहरणम्, भूतपृथक्त्वम् भूतानुषक्तस्यात्मनः स्वच्छताऽऽपादनम्, एतानि भावनीयानि इति शेषः ॥५॥

इस प्रकार के साधन में लगा योगी संहार उपायों का प्रयोग करता है। प्राण वाहिनी नाड़ियों की लय की भावना सुषुम्ना में की जाती है। भूतों की विजय उनकी विलीन भावना से होती है, इसे भूत-शुद्धि भी कहते हैं। चित्त विषयों से हरण करके आत्मा में विलीन करना भूत-कैवल्य है। भूतों में आसक्त चित्त को आत्मा में अनुरक्त करके स्वच्छता सम्पादन करना भूत-पृथकत्व के लय की भावना है। इस प्रकार की भावना करना चाहिये। शाम्भवोपाय और आणवोपाय, दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाली एक ही प्रकार की सिद्धि में अन्तर यही है कि आणवोपाय में सिद्धि प्रयत्न के द्वारा होती है, तथा शाम्भवोपाय में बिना प्रयत्न के ही होती है।

यह सब सिद्धियां मोह में ही डालती हैं, सो कहते हैं—

६. मोहावरणात् सिद्धि

शाम्भवोपायाल्लभ्यमाना सिद्धिः प्रयत्नसाध्या न भवति। आणवोपायतस्तु प्रयत्नसाध्या अयमेव भेदः, अनेन प्रकारेण देहशुद्धिमारभ्य समाधिपर्यन्तसाधनैः सिद्धिर्भवति मोहावरणात् मोहकृतावणात् न तु परतत्त्वप्रकाशात् "व्युत्थाने सिद्धयः" इति योगसूत्रम् ॥६॥

इस प्रकार देह-शुद्धि से लेकर समाधि परयन्त साधन के पश्चात् जो सिद्धि होती है, वह मोहावरण से होती है, आत्मज्ञान से नहीं होती है। योग-सूत्र में भी कहा है—'व्युत्थाने सिद्धिः'। आणवोपाय और शाम्भवोपाय, दोनों की सिद्धियां एक ही प्रकार की होती हुई भी उनमें अनेक उपलब्धि प्रकार के अन्तर हैं, तथा ये मोह में डालती हैं। आत्मज्ञान में इनका उपयोग नहीं है।

इसीलिये मोह को निवृत्त करने का उपदेश किया जाता है—

७. मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः

योगी मोहं निजाख्यातिं यदा जयति तदाऽनन्तसूर्यप्रकाशस्य विस्तारो भवति तेन सहजविद्याया जयो लाभो भवति ॥७॥

अपने ज्ञान से अपने अज्ञान रूपी मोह को जब योगी जीत लेता है तब अनन्त उद्यम रूपी सूर्य के प्रकाश का विस्तार होता है और इस आत्मप्रकाश के द्वारा सहज विद्या की प्राप्ति होती है।

८. जाग्रद् द्वितीयः करः

तस्याः पूर्णाहन्ताया भिन्नो द्वितीया करः किरणरूपः प्रकाशः इदन्ताविमर्शः अस्य विश्वं स्वकिरणतुल्यं स्फुरति ॥८॥

उस पूर्णाहंता रूपी स्वयंप्रकाश की भिन्न दूसरी किरण इदन्ता विमर्श की है, अर्थात् पूर्णाहंता की द्वितीय किरण विश्व रूप इदन्ता विमर्श को कहा है, क्योंकि प्रकाश प्रथम किरण है तथा विमर्श दूसरी किरण है जिसके द्वारा यह सारा विश्व स्वकिरण रूप में ही स्फुरित हो रहा है।

अब इस किरण रूप विमर्श का संसारी आत्मा रूप से वर्णन करते हैं।

९. नर्तक आत्मा

अनेन प्रकारेण स्वेच्छया आधाररूपायां चिति स्वपरिस्पन्दलीलया जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्ति-भूमिकासु नृत्यन् आत्मा आभासितस्य कारणं भवति नर्तक इव ॥९॥

इस प्रकार का आत्मा स्वेच्छा से स्वात्मचित्त रूपी आधार पर स्वपरिस्पन्द लीला से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी भूमिका में सतत् नृत्य करता हुआ आभासित होने के कारण 'नर्तक' कहलाता है।

यह भ्रमणशील अवस्था स्वेच्छा से जगद्गुरू ने ही धारण की है—

१०. रङ्गोन्तरात्मा

एवं नाट्य कुर्वन् योगिभूमिकाग्रहणस्थानं स्वयमन्तरात्मा जगद्गुरुर्जगन्नाट्यं प्रकाशयति ॥१०॥

इस प्रकार नाट्य करने वाले योगी के भूमिका ग्रहण करने का स्थान (रंगभूमि) स्वयं अन्तरात्मा जगद्गुरू है जो इस जगत् रूप नाटक को संचालित कर रहा है।

११. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि

इन्द्रियाणि दर्शकस्थानीयानि भवन्ति ॥११॥

इन्द्रियां दर्शक के समान हैं।

इस प्रकार की स्थिति-प्राप्त योगी का वर्णन करते हैं—

१२. धीवशात् सत्त्वसिद्धिः

धीस्तत्त्वचिन्तनजन्यवैशद्ययुक्ता तस्माच्च सत्त्वस्य स्फुरणम् तेनान्तरपरिस्पन्दस्य अभिव्यञ्जना जायते स्पन्देऽन्तर्निहिता सिद्धिः सत्त्वसिद्धिः ॥१२॥

धीतत्त्व के चिन्तन से उत्पन्न विस्तार के कारण सत्व के स्फुरण से अन्तर परिस्पन्द की व्यञ्जना (अभिव्यक्ति) होती है। इस स्पन्द में निहित सिद्धि को सत्त्वसिद्धि कहते हैं।

सत्त्व सिद्धि से प्राप्त परिणाम को बताते है—

१३. सिद्धः स्वतन्त्रभावः

अनया सिद्ध्यायुक्तो योगी सिद्धः स्वतन्त्रो भवति ॥१३॥

इस सिद्धि से युक्त पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है। उसे अखिल विश्व को स्ववश करने की क्षमता प्राप्त होती है।

ऐसे योगी की व्यापकता का वर्णन करते हैं—

१४. यथा तत्र तथान्यत्र

यथा स्वस्मिन् देहे स्वात्मानन्दमनुभवति तथान्यत्र देहेष्वपि समाप्रतिपत्तिः ॥१४॥

वह जैसे अपनी देह में वैसे ही अन्य देहों में भी स्वात्मानन्द की अनुभूति करता है।

इस अवस्था-प्राप्त योगी को सावधान किया जाता है—

१५. बीजावधानम्

अतो योगिना सावधानेन भवितव्यम् प्रत्युत विश्वकारणे चित्तं समाधातव्यम् ॥१५॥

इस प्रकार के योगी को सावधान रहना चाहिये, अर्थात् विश्व के कारण रूप बीज में चित को बारम्बार लगाना चाहिये।

सावधान करने से क्या होता है, सो बताते हैं—

१६. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति

पराशक्तौ सावहितो योगी आसनस्थ एवं संवित्सिन्धौ ह्रदेसुखेन मग्नस्तन्मयो भवति ॥१६॥

पराशक्ति में सदा सावधान रहने वाला योगी आसनस्थ ही परानन्द रूपी संवित्सिन्धु में (हृदय में) सुख से निमज्जित तन्मय होता रहता है।

इस अवस्था-प्राप्त योगी की सामर्थ्य बताते हैं—

१७. स्वमात्रा निर्माणमापादयति

अनेनाणवोपायेन शाक्तावेशप्रकर्षाद् योगी शाम्भवं वैभवमाप्नुवन् स्वेच्छया स्वमात्रां निर्मातुं शक्नोति अर्थात् बुद्धिक्रिययायुक्तश्चितं निर्मायितां द्रष्टुं शक्नोति ॥१७॥

इस प्रकार आणवोपाय से प्राप्त शाक्तावेश के प्रकर्ष से योगी शाम्भव वैभव को प्राप्त हुआ स्वेच्छा से स्वमात्रा का निर्माण कर सकता है, अर्थात् बुद्धि क्रिया से युक्त चित्त का निर्माण कर उसे देख सकता है।

इस अवस्था की नित्य स्थिति का फल बताते हैं—

१८. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः

विद्याया अविनाशे सदोदये सति जन्मनोऽज्ञानसहकारिक्रियाहेतुकस्य दुःखमयस्य शरीरादिसमुदायस्य विनाशः विध्वंसः सम्पद्यते ॥१८॥

जब यह सहजा विद्या सदा उदित रहती है तब पुनर्जन्मादि का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। जन्म का मूल अज्ञान से उत्पन्न होने वाली क्रिया, अर्थात् सुख-दुःख इत्यादिक शारीरिक समुदाय का ध्वंस हो जाता है।

इस अवस्था-प्राप्त योगी को पतित करने वाली शक्तियों से सचेत किया जाता है—

१९. कवर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशुमातरः

यदा योगी शुद्धविद्यायां निमग्नो भवति तदा तं मोहयितुम् अनेकाः शक्तय आविर्भवन्ति तासु कवर्गादिषु अधिष्ठित्र्यो माहेश्वर्यः शक्तयस्तत्तत्प्रत्यय भूमिषु आविष्टाः सत्यः प्रमातॄन् तत्तच्छब्दानुबेधेन मोहनात् पशुमातर इत्युच्यन्ते ॥१९॥

जब शुद्ध विद्या के स्वरूप में योगी निमज्जित होने लगता है तब उसे मोहने के लिये अनेकों शक्तियाँ उठती हैं। इनमें से कवर्गादि में अधिष्ठित माहेश्वरी आदि शक्तियाँ तत्प्रत्यय भूमि में आविष्ट होकर प्रमाताओं (पशुओं) का तत्तच्छद्वानुबेध से मोहने की कारण जो हैं, पशु माता कहलाती हैं अर्थात् बन्धन नारी शक्तियाँ है।

इस सूत्र के द्वारा योगी को अपने साधन में लगातार लगे रहने को कहा गया है जिससे वह अपने मार्ग से च्युत न हो सके।

२०. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्

शुद्धविद्याप्राप्तौ सत्यामपि योगिना प्रमादेन न स्थातव्यम् जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु तुरीयाया आसेचनं तैलवत्कार्यम्। यथा तैलं क्रमेण प्रसरत् आश्रयं प्राप्नोति तथा तुर्यरसेन मध्यदशामपि व्याप्नुवत् तन्मयत्वं प्राप्तव्यम् ॥२०॥

इसलिये शुद्धाविद्या के प्राप्त होने पर भी योगी को प्रमाद नहीं करना चाहिये। उसे तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं में तुरीया का सदा ही आसेचन करना चाहिये। आसेचन से तात्पर्य है कि जिस प्रकार दीपक को तेल डाल कर उसकी लौ को कायम रखा जाता है इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषप्ति में तुरीया को अपनाते रहना चाहिये जिससे चित का स्फुरण अभेद रूप से होता रहे।

इसी दृढ़ता के लिये पुनः कहते हैं—

२१. मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत्

भग्नस्तुरीयानन्दे शरीरादिप्रमातृत्वं शमयन् स्वचित्तेन अविकल्पकरूपेण समाविशेत् ॥२१॥

तुरीयानन्द में मग्न होकर शरीरादि की प्रमातृता का शमन करना चाहिये तथा चित्त को विकल्प रहित (स्वसंविद्) करके उसमें समाविष्ट होना चाहिये।

स्वसंविद् में प्रवेश का फल कहते हैं—

२२. प्राणसमाचारे समदर्शनम्

एवमनुष्ठितं कुर्वतो योगिनः प्राणेऽस्य बहिर्मन्दमन्दप्रसरणे एकात्मतया संवेदनम् सर्वासु अवस्थासु अभेदो भवति तदा अद्वैतानुभवः सम्पद्यते ॥२२॥

इस प्रकार अनुष्ठान करते हुए योगी के प्राण में बाहिर मन्द-मन्द प्रसरन में एकात्मता से जब संवेदन अर्थात् समस्त अवस्थाओं में अभेद की अनुभूति होती है तब अद्वैतानुभव सम्पन्न होता है।

२३. मध्येऽवर: प्रसव:

यो योगी तुरीयामवस्थां प्राप्नुवन्नपि तुरीयातीतां न लभते मध्ये स्थितस्य तस्य कुत्सितस्य सृष्टौ पतनं भवति ॥२३॥

जो योगी तुरीयावस्था को प्राप्त करता हुआ तुरीयातीत का लाभ नहीं करता है, तो ऐसी मध्य की स्थिति में कुत्सित विचारों की सृष्टि होने से वह पतित हो जाता है।

२४. मात्रास्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम्

मात्रासु पदार्थेषु रूपादिनामकेषु यदा अहमेवेदं सर्वम् इति प्रत्ययानुसन्धानं पुन: पुनश्चिन्तनं करोति तदा पूर्वोक्तात् पतनात् नष्टस्य लुप्तस्य तुर्यानन्दस्य उन्मज्जनमाविर्भावो जायते ॥२४॥

रूपादि पदार्थों में (मात्राओं में) स्वप्रत्यय का अनुसंन्धान, अर्थात् 'अहमेवेदं सर्वम्' इस प्रत्यय का पुनः-पुनः अनुसंधान करने से पूर्वोक्त पत्तन से बच कर तुरीयानन्द का पुनः आविर्भावि होता है। अर्थात् स्वप्रत्यय के चिन्तन से नष्ट तुरीयानन्द को पुनः-पुनः उठाना चाहिये।

२५. शिवतुल्यो जायते

तुरीयाभ्यासप्रकर्षेण प्राप्ततुरीयातीतो योगी सच्चिदानन्दघनेन भगवता शिवेन तुल्यो यौगिकशरीरेण सार्धं समो जायते देहकलाया अविलयनात् तद्विगलिते शिव एव। "निरञ्जन: परमं साम्यमुपैतीति" श्रुते: ॥२५॥

तुरीयाभ्यास के प्रकर्ष से प्राप्त तुरीयातीत योगी सच्चिदानन्दघन शिव तुल्य हो जाता है। अर्थात् इसी शरीर में योगिक शरीर द्वारा देह-कला के विगलन से शिवत्त्व की प्राप्ति होती है। "निरञ्जन: परमं साम्यमुपैतीति" श्रुते:—अर्थात् निरञ्जन तत्त्व से उसका परमसाम्य हो जाता है।

२६. शरीरवृत्तिर्व्रतम्

शिवोहम्भावेन वर्तमानस्य योगिनः शरीरे वृत्तिर्वतनं यत्तदेवव्रत्तम् अनुष्ठातव्यं नान्यदुपयुक्तम। उक्तञ्च—" अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूष पोषितम्। भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे।" इति ॥२६॥

शरीर की वृत्ति ही वृत्त है। 'अन्तर आनन्द से उल्लसित, भक्ति सुधा से परिपोषित यह शरीर तुम्हारी पूजा के उपयोग में ही लगा रहे, इसकी कदापि तुच्छ धारणा न हो—इस प्रकार की शरीर वृत्ति का व्रत करता रहे. अथवा शिवोहम की सतत् भावना करता रहे। इसका अनुष्ठान करना चाहिये, इसी का नाम व्रत है। इसके अतिरिक्त कुछ भी उपयुक्त नहीं है।

स्वरूप-प्राप्त योगी का वर्णन करते हैं—

२७. कथाजपः

ईदृशस्य परमभावनाभावितस्य योगिनः वार्तालापादिकं जपकार्यं भवति ॥२७॥

ऐसे योगी की जो, बार-बार परम भाव से भावित होता रहता है बातचीत ही जप है।

२८. दानमात्मज्ञानम्

स शिष्येभ्यो दानम् आत्मज्ञानं ददाति समर्थत्वात्। दीयते इति दानम् ॥२८॥

इस प्रकार का योगी अपने परिपूर्ण स्वरूप को, अथवा शिवात्म ज्ञान को शिष्यों में दान रूप में वितरण करता है।

२९. योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च

तस्य माहेश्वर्यादयःशक्तयः—अवीन् पशुजनान् पातीति अविपं शक्ति-मण्डलं—कवर्गाद्यधिष्ठाच्यो देव्यो भवन्ति। तासां प्रभुत्वेन यः स ज्ञानशक्ति हेतुः, ज्ञानशक्त्या विनेयान् बोधयितुं च निश्चयेन समर्थो भवति ॥२९॥

उसकी माहेश्वरादि शक्तियों और कवर्गादि अधिष्ठात्री देवियों के प्रभाव से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान-शक्ति के अवश्यम्भावी परिणाम से उसे शिव का बोध होने की सामर्थ्य उत्पन्न होता है। माहेश्वरादि शक्तियों का प्रभाव ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है तथा ज्ञान शक्तिबोध के निश्चय का कारण है।

३०. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्

तस्य स्वशक्त्यात्मकसंवेदनस्य स्फुरणात्मको विकास एव जगत्। उक्तञ्च—"शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।" इति॥ शक्तिप्रचयः क्रिया-शक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वमित्युच्यते ॥३०॥

उसकी स्वशक्ति-आत्मसंवेदन का स्फुरण रूप विकास (प्रसाद) ही विश्व हो जाता है। प्रसाद अर्थात् क्रिया शक्ति का स्फुरण रूप विकास ही विश्व रूप हो जाता है।

३१. स्थितिलयौ

तस्मिन् चिन्मयाहन्तायाः स्थितिः, तथात्मविश्रान्तिरूपोलयोऽपि भवति ॥३१॥

उसमें चिन्मय अहंता की स्थिति तथा आत्मविश्रान्ति रूप लय भी होता है।

३२. तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेतृभावात्

ये विकासाः संकोचा अपि स्वशक्तिविकासात् आत्मसंविदि एवं जायन्ते। ननु सृष्टिस्थितिध्वंसानामन्योऽन्यभेदेन योगिनः स्वरूपे एवान्यथाभावः परिणाम आगच्छतीति चेन्न तत्प्रवृत्तावपि स्वरूपच्युतेरभावात् ज्ञानस्वरूपत्वात् ॥३२॥

ये विकास और संकोच स्वशक्ति के विकास से 'आत्मसंविद्' में ही होते हैं। यहां यह शंका होती है कि सृष्टि, स्थिति, ध्वंस में इनके अन्योन्य भेद से योगी के स्वस्वरूप में अन्यथा भाव आ सकता है। इसका उतर है कि सृष्ट्यादि भावों में प्रवृत्त होते हुए भी वह योगी स्वरूप में स्थित होने से एवं ज्ञान स्वरूप होने से कदापि च्युत नहीं होता है।

३३. सुखासुखयोर्बहिर्मननम्

लोकवत्तस्य योगिनः सुखदुःखयोः संवेदनं न भवति। स तु नीलपीतादिवदनयोर्बहिरेव मननं करोति। प्रशान्तमातृताभावो योगी सुखदुःखाभ्यां कथमपि न सम्बध्यते ॥३३॥

उसे लोकवत् सुख-दुःख का अन्तर्संवेदन नहीं होता, वह तो नील-पीतादि के समान इनका बहिर्मनन करता है। अज्ञान धन वाला शुभाशुभ से कलंकित होता है तथा जिसकी मात्रता या संकोच समाप्त हो गया है ऐसा योगी सुख-दुःख से सम्बद्ध नहीं होता।

३४. तद्विमुक्तस्तु केवली

सुखदुःखाभ्यां विमुक्तस्तत्संस्कारैश्चास्पृष्टो योगी केवली चिन्मय इत्युच्यते ॥३४॥

सुख-दुःख से मुक्त सस्कारों से अस्पृष्ट योगी चिन्मय 'केवली' कहलाता है।

३५. मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा

मोहेन अज्ञानेन प्रतिसंहतस्तादात्म्यमापन्न स एव कर्मात्मा संसारीति कथ्यते । उक्तञ्च—"अज्ञानैकघनो नित्यं शुभाशुभकलङ्कितः ।" इति ॥३५॥

मोह (स्वख्याति) के प्रति संहत वही तादात्म्य प्राप्त योगी 'कर्मात्मा' बनता है । अज्ञान से मूढ़ होकर वह संसारी बन जाता है, तथा शुभ और अशुभ से कलङ्कित हो जाता है ।

३६. भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम्

देह-प्राणादौ यः अहन्तारूपौ भेदस्तस्य तिरस्कारात् शुद्धचैतन्याविर्भावात सर्गान्तरकर्मत्वम् अभिलषितदस्तुनिर्मातृत्वं भवति ॥३६॥

देह प्राणादि में अहन्ता रूपी भेद के तिरस्कार से शुद्ध चैतन्य के आविर्भाव होने पर सर्गान्तर में कर्मत्व की प्राप्ति होती है, अर्थात् देह को अभिलाषित वस्तु के निर्माण की सामर्थ्य प्राप्त होती है ।

३७. करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात्

यथा स्वप्नसङ्कल्पादौ स्वतः करणसामर्थ्यस्य दर्शनात् करणशक्तिरनुभूयते तथैव स्वानुभवे सततं संल्लग्नाद् योगिनः करणशक्तिर्भवति ॥३७॥

जैसे स्वप्न-सङ्कल्पादि में स्वतः ही करण के सामर्थ्य के दर्शन सेकरण-शक्ति का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वानुभव में सतत् संलग्न रहने से योगियों को करण-शक्ति का अनुभव होता है ।

३८. त्रिपदाद्यनुप्राणनम्

स योगी दृढभावनातः स्वप्नसङ्कल्पेन तुल्यसृष्टिं करोति । अनया स्वतन्त्र-करणशक्त्या अवस्थात्रयं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं धृत्वा अनुप्राणिति यद्यपितुर्याख्यं पदं माययाच्छादितं तथापि विषयभोगाद्यवसरेषु विद्युद्वदवभासनं तेन अनुप्राणनं स्वात्मनः उत्तेजनं कर्तव्यम् ॥३८॥

वह अपनी दृढ़ भावना से स्वप्न-संकल्प के समान सृष्टि निर्माण करता है । तथा इस स्वतन्त्र करण-शक्ति से योगी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों पदों को धारण कर अनुप्राणित करता है । यद्यपि इस अवस्था में तुरीय पद माया से आच्छादित रहता है तथापि विषय-भोगादि के अवसर पर विद्युत प्रकाश की तरह वह उत्तेजित होता है । अर्थात् अनुभव में आता ही है । अर्थात् विषयभोग अवसर में भी उस तुरीय से स्वयं को अनुप्राणित करना चाहिये ।

३९. चित्तस्थितिवच्छरीरकरणं बाह्येषु

इयं स्वतन्त्राशक्तिः चित्तस्थितितुल्यं शरीरं बाह्यं करणमिन्द्रियं तद्विषयं च अनुप्राणिति तन्मयी च भवति ॥३९॥

यह स्वतन्त्र लक्षणा शक्ति चित्त स्थिति के समान ही शरीर के बाह्य करणों (इन्द्रिय तथा उनके विषय) को भी अनुप्राणित करती है और तन्मय हो जाती है।

इस अवस्था में भी योगी को अल्प अहंकार से सचेत किया जाता है—

४०. अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य

यदि योगी तुरीयावस्थातो देहादिषु प्रच्युतो भवति तेषु अहंमयाभिमन्यते तर्हि अपूर्णमान्यतारूपया अनया अभिलाषया जन्मजन्मान्तरेषु भ्रमणशीलस्य पशुत्वस्य केवला बहिर्गतिरेव भवति ॥४०॥

यदि योगी तुरीयावस्था से देहादि में प्रच्युत हो जाता है अर्थात् तुरीयावस्था में स्थित योगी का देहपात हो जाता है और उसे शरीर में अहंमय भावना शेष रह जाती है तो अपूर्ण मन्यता रूप इस अभिलाषा से जन्मजन्मातर में भ्रमण करते हुए पशुत्व की केवल बाह्यगति प्राप्त होती है, अर्थात् बन्धन की व्याप्ति अन्तरआत्मा में नहीं होती है इसी अभिप्राय को स्पष्ट आगामी सूत्र में कहा गया है।

४१. तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसक्षयः

सावित्परामर्शसंलग्नस्य योगिनः अभिलाषक्षयात् जीवत्वभावना अपि विनश्यति केवलं चिन्मात्ररूपेण स्फुरतीत्यर्थः ॥४१॥

उस तुरीयावस्थित परिमित पर आरूढ़ योगी की अभिलाषा के क्षय होने पर जीवत्व का विनाश हो जाता है। तुरीयावस्था के ज्ञान के परामर्श से युक्त योगी की अभिलाषा के क्षय होने पर जीवत्व का नाश हो जाता है। अतः केवल चिन्मात्र रूप से उसका स्फुरण होता है।

४२. भूतकञ्चुकी तदाविमुक्तो भूयः पतिसमः परः

प्रपञ्चरूपात्पञ्चकञ्चुकात् विमुक्तो योगी पतिसमः शिवतुल्यः परः उत्कृष्टः स भवति ॥४२॥

प्रपंच रूप पांच कंचुकों (आवरणों) से विमुक्त योगी शिव तुल्य उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है। कंचुक प्रपंच के द्वारा भौतिक आवरणों का त्याग यहां योगी को आवश्यक बतलाया है।

४३. नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः

यद्यपि शिवत्वमनुभवति तथापि पाञ्चभौतिकशरीरेण सम्बन्धयुक्त एव भवति यतस्तस्य प्राणसम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वात् ॥४३॥

यद्यपि भूत सम्बन्ध त्याग से योगी को शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है तथापि पांच-भौतिक मायामय शरीर से सम्बन्ध रहने के कारण प्राण सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से बना रहता है।

४४. नासिकान्तर्मध्यसंयमात्किमत्रसव्यापसव्यसौषुम्णेषु

नासिकान्तर्वर्तिन्याः प्राणशक्तेश्चन्द्रसूर्यसुषुम्णात्मिकायाः संयमादेकीकरणात् परायां संविदि विमर्शे सततरता आन्तरं मध्यं प्रधानमन्तरतमं विमर्शरूपं संयच्छन्तो ये महात्मानो विद्यन्ते तेषां कृते किमवशिष्यते न किमपीत्यर्थः ॥४४॥

नासिका के मध्य संचार करने वाली प्राण शक्ति के जो चन्द्र-सूर्य तत्त्वात्मक है, उसके सुषुम्ना मार्ग में (कुण्डलिनीरूप) संयमन करने से परासंविद् (आत्मज्ञान) प्राप्ति में निरन्तर ध्याननिष्ठ योगि-जनों को अन्तःकरण के अन्तः-मध्य तथा प्रधान तत्त्वों का प्रतिबोध हो जाता है, अर्थात् वे ब्रह्मज्ञानी पद प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे महान् आत्माओं को सर्वज्ञता स्वयं सुलभ हो जाती है।

४५. भूयः स्यात् प्रतिमीलनम्

ते योगिनो जीवन्मुक्ता अहरहः परमानन्दमेवास्वादयन्ति चैतन्यात्मरूपोन्मीलनरूपं तेषां भवतीति ॥४५॥

पूर्वोक्त ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त योगीजन जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्तकर प्रतिदिन परमानन्द का आनन्दोपभोग करते हुए नित्य चैतन्य स्वरूप हो जाते हैं।

इति श्रीशिवसूत्राणां ऋज्वर्थबोधिनी तथा सरलार्थ बोधिनी वृत्ति सहित आणवोपाय प्रकाशननामक स्तृतीय उन्मेषः समाप्तः।

• •

आचार्य वसुगुप्त

एवं

तच्छिष्य आचार्य कल्लट

विरचिता

स्पन्द कारिका

(हिन्दी टीका सहित)

वन्दो गुरु पद कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि ।
महां मोहतमपुञ्ज जासु वचन रविकर निकर ।।

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ भगवत् आचार्य वसुगुप्त की कृति है जैसा कि इसका मूल जो कश्मीर सीरीज में निकला है उससे मालूम होता है । विचार आचार्य जी के हैं तथा उनके शिष्य श्री कल्लटाचार्य जी ने श्लोकबद्ध करके ग्रन्थ का आकार दिया है । यह ग्रन्थ कश्मीर के शैव दर्शन के त्रिक सिद्धान्त के अनुसार है, उसी के अनुरूप इसके तीन खण्ड करके साधन और साध्य का स्वरूप समझाया गया है, इसलिये इसके तीन प्रकरण हैं ।

जो अपने स्वरूप को आवरित करने और प्रगट करने में नित्य ही समर्थ और स्वतन्त्र है तथा जो अपने अत्यन्त प्रेमियों के निकट नित्य ही अपने प्रभाव सहित विराजमान है उसी की वन्दना, उसी के द्वारा, उसी के शब्दों में करके अपने अभीष्ट को पाकर हम आनन्दित हैं तथा उन्हीं के पाठ्यक्रम के बीच यह ग्रन्थ जैसा बताया गया यहाँ दिया गया है ।

वास्तव में ऐसे महत्त्वपूर्ण स्पन्दतत्त्व का हिन्दी साहित्य में अभाव देखकर इसको हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत किया गया है ।

वेणीमाधव अ० शास्त्री
किशोरीशरण चउवा

॥ ॐ श्रीचिद्घनात्म वपुषे शंकराय नमः ॥

शिव का स्वरूप

श्लोक—यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्र विभव प्रभवं शंकरं स्तुमः ॥१॥

अर्थ—जिसके उन्मेष और निमेष से इस विश्व का उदय और अस्त होता है, उस शक्ति-चक्र के प्रभाव, अर्थात् होने को जो प्रकाशित करता है उस शङ्कर की हम स्तुति करते हैं ॥१॥

शक्ति का स्वरूप

श्लोक—यत्र स्थित मिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृत रूपत्वान्ननिरोधोऽस्ति कुत्र चित् ॥२॥

अर्थ—जितना भी यह सब स्थित है, अर्थात् सत्ता रूप में भासित है तथा जिससे यह समस्त कार्य निकला है, वह अनावृत रूप ही है। उसका कभी निरोध नहीं होता ॥२॥

अणु रूप जीव का स्वरूप

श्लोक—जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावा दुपलब्धृतः ॥३॥

अर्थ—जाग्रदादि अवस्थाओं में भेद रहते हुए भी तथा उनसे अभिन्न रहकर ही प्रवाहित हो रहा है परन्तु उसको अन्यथा भाव की प्राप्ति न होकर, अर्थात् उसका स्वरूप अनावृत ही है जो स्वभाव रूप में उपलब्ध है ॥३॥

संविद्कला का स्वरूप

श्लोक—अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादि संविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्रताः स्फुटम् ॥४॥

अर्थ—'मैं सुखी अथवा दुःखी हूं' यह अनुभव जिस संवेदन द्वारा प्रमाता को होता है, यही संवेदनात्मक संविद्-कला है जो सुखादि अवस्थाओं में अनु-

स्यूत होकर प्रमाता रूप में भाषित हो रही है, अर्थात् यह जो अभिन्न होकर भी भिन्न के समान भाषने वाला तत्त्व है यही संविद् कला का रूप है, अर्थात् जाग्रदादि का भेद रूप से अनुभव होने पर भी जो सामान्य रूप में उपलब्ध 'ज्ञान' है उसका स्वरूप आवृत नहीं होता, न अन्यथा भाव की उसे प्राप्ति होती है ॥४॥

श्लोक—न दुःखं न सूखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढ भावेपि तदस्ति परमार्थतः ॥५॥

अर्थ—उसके इस संविद् रूप में सुख-दुःख ग्राह्य और ग्राहक अथवा भोग्य और भोक्ता के मूढ़ादि भाव स्पष्ट दीखते हुए भी परमार्थतः वह नित्य स्वभाव है, उसमें यह सब नहीं हैं। सुखादि भाव संकल्प से उत्पन्न होने वाले क्षणभंगुर हैं, उस संविद् रूप या आत्मस्वभाव से बाहर हैं। शब्दादि विषय रूप सुखादि रूपों का अभाव होते हुए भी वह पाषाणवत् अवस्था नहीं है, अपितु पूर्ण चैतन्य मात्र भाव है ॥५॥

श्लोक—यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति संहृतीः ॥६॥
लभते, तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्व मादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयम कृत्रिमा ॥७॥

अर्थ—इस स्पन्दतत्त्व के बाहर ही यह इन्द्रिय वर्ग जो प्रयत्न करने का सीमित भाव है, करण वर्ग है, जड़ रूप है। उसका उदय होता है इसी अन्तः-करण के साथ चेतन के समान मूढ़ भावों की उत्पत्ति होती है और इसी के कारण ही यह प्रवृत्ति, स्थिति, संहार का चक्र चल रहा है, अर्थात् यही जो बन्धन का हेतु है वही मोक्ष का भी हेतु है, इसलिये इसी के अन्तःउद्योग उत्साह के द्वारा श्रद्धा-पूर्वक योगबल का आश्रय स्वीकारने से उस स्वतन्त्र तत्त्व की प्राप्ति भी हो जाती है जिसके बिना यह सब मिथ्या है ॥६-७॥

श्लोक—न हीच्छानोदन स्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपित्वात्मबल स्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥८॥

अर्थ—तब वह इच्छाशक्ति से आच्छादित हुआ प्रेरक रूप से वर्तता है और अपने आत्मबल के योग से वह साधक तो उसी के समान हुआ रहता है ॥८॥

श्लोक—निजा शुद्धा समर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥६॥

अर्थ—जब तक माया में आवृत है और आत्मबल का स्पर्श नहीं होता तभी तक सुख-दुःख के चक्र में पड़ा रहता है, परन्तु ज्योंही अल्पाहन्ता रूप क्षोभ का लय होता है परम पद की प्राप्ति हो जाती है ॥६॥

परमार्थ में विज्ञान का रूप

श्लोक—तदाऽस्याऽकृत्रिमोधर्मो ज्ञत्व-कर्तृत्व लक्षणः ।
यतस्त दीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥१०॥

अर्थ—अहमिति प्रत्यय रूप क्षोभ के लीन होने पर जो आत्मस्वरूप के सहज धर्म, ज्ञत्व, कर्तृत्व आदि हैं वह स्वभाव रूप से स्थिर हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञत्व, कर्तृत्व भाव जो अल्पहंता में हैं वह पूर्णता को प्राप्त होकर पूर्णाहं रूप से 'मैं जानता हूं', 'मैं कर्ता हूं' यह सर्वरूप से मूल प्रकृति में स्थित हो जाते हैं ॥१०॥

योगस्थ पुरुष का वर्णन

श्लोक—तमधिष्ठातृ भावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्वयमान इवास्ते यस्तस्येय कुसृतिः कुतः ॥११॥

अर्थ—जब वह सब में अनुस्यूत सर्वसामर्थ्ययुक्त आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके उसमें स्थित होने के कारण सर्वव्यापक स्वभाव से स्थित हुआ आश्चर्यवत् अपने को देखता है तथा तब अविद्या के विलय हो जाने के कारण उसका संसरण नहीं होता ॥११॥

अन्तराय

श्लोक—ना ऽभावोभाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता ।
यतोऽभियोग संस्पर्शात्त दासीदिति निश्चयः ॥१२॥
अतस्तत्कृत्रिमंज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा ।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्वं प्रतिपद्यते ॥१३॥

अर्थ—उसकी अभाव रूप से भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह मूढ़ता के भाव जैसा नहीं है, वह तो नित्य ही उदित चिद्रूप से अनुभव किया जाता है । व्युत्थान दशा में उसका स्मरण चिद्रूप से ही होता है । सुषुप्ति के

समान मूढ़ भाव से उसका स्मरण नहीं होता है। इसलिए उसकी नित्य अनुभव रूप या चिद्रूप से ही भावना करनी चाहिये, अचिद् या अभाव रूप से नहीं करनी चाहिये ॥१२-१३॥

साधन का विज्ञान

श्लोक—अवस्था युगलंचाऽत्र कर्य-कार्तृत्व शब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥१४॥

अर्थ—कार्य, कर्तृत्व संज्ञक यह द्वैत रूप अवस्था भोग्य-भोक्ता रूप है। इसमें जब भोग्य रूप कार्य का लय हो जाता है तो भोक्ता रूप कर्तृत्व का भी लय हो जाता है, अर्थात् पूर्णाहंता भाव से अहमिति प्रत्यय और इदं का उदय और अस्त एकसाथ ही होता है ॥१४॥

परमार्थ प्राप्त योगी की अवस्था

श्लोक—कार्योन्मुखः प्रयत्नोयः केवलं सोऽत्रलुप्यते ।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥१५॥

अर्थ—कार्य सम्पादन का जो बाह्य इन्द्रिय व्यापार है केवल उसका ही लोप होता है, अर्थात् बाह्य इन्द्रिय व्यापारपूर्ण स्वभाव में सामर्थ्य रूप से लुप्त होने से उसको साधक जड़ प्रकृति में हुआ ही अनुभव करता है परन्तु भाव का नाश नहीं होता है, अर्थात् साधक अपने को चिद्रूप से ही अनुभव करता है ॥१५॥

तथा

श्लोक—न तु योन्तर्मुखोभावः सार्वज्ञादि गुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥१६॥

अर्थ—अन्तर्मुख चक्रारूढ़ स्वभाव के जो सर्वज्ञतादि भाव हैं, जिनके आश्रित गुण हैं उनका नाश नहीं होता है, अपितु द्वितीय के अन्य रूप से उपलब्ध न होने पर अपने स्वरूप की व्योमवत् चिद्रूप से सर्वत्र ही अनुभूति रहती है ॥१६॥

तथा

श्लोक—तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्यतु ॥१७॥

अर्थ—उसको सर्वगत चिद्रूप की उपलब्धि जाग्रदादि तीनों पदों में बोध रूप से नित्य ही रहती है उसका कभी व्यभिचार नहीं होता है, उस प्रबुद्ध दशा का नित्य जागरण ही स्वरूप है, अर्थात् सुप्त और तुर्य के समान स्वप्न और जाग्रत् दशा में त्याग भाव के द्वारा वह समान रूप से रहती है ॥१६॥

तथा

श्लोक— ज्ञान ज्ञेय स्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्रतु चिन्मयः ॥१८॥

अर्थ—ज्ञान और ज्ञेय भाव से ही भेद का संवेदन होता है। जाग्रत् और स्वप्न के दोनों पदों में यह दोनों भाव ज्ञान और ज्ञेय रूप से ही अनुभव होते हैं, परन्तु सुषुप्ति और तुर्य के दो पदों में केवल चिद्रूपता का अनुभव होता है वहां दो रूपों का भेद रूप से अनुभव नहीं होता, यानी अन्य-अन्य भाव से इन दशाओं में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। अथवा इन जाग्रत् और स्वप्न रूप भेद मूलक दोनों पदों में वह अपने को नित्य व्यापक चिन्मय तुर्य भाव से ही अनुभव करता है और समस्त द्वैत उसी अद्वैत में ही भासमान है, अन्यत्र नहीं ॥१८॥

विज्ञान का स्वरूप

श्लोक—गुणादि स्पन्द निष्पन्दाः सामान्यस्पन्द संश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्या परिपन्थिनः ॥१६॥

अर्थ—सामान्य स्पन्द में ही गुणादि स्पन्द रूप जगत् की उत्पत्ति और स्थिति है, उसी के ज्ञान से आत्म लाभ होता है क्योंकि वह उस आत्मतत्व से ही एकाकार है, अर्थात् दोनों जगत् और आत्मा का भान इसी सामान्य स्पन्द के आश्रय से होता है क्योंकि यह सामान्य स्पन्द ही दोनों को अविरोधी भाव से धारण किये हुए है। इसलिए इस सामान्य स्पन्द को ही समझ लेना चाहिये ॥१६॥

विज्ञान के न जानने से हानि

श्लोक—अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसार वर्त्मानि ॥२०॥

अर्थ—मूढ़ लोग उस (सामान्य स्पन्द) की चिद्रूप से भावना नहीं करते हैं, इसी कारण गुणों से प्रभावित घोर संसार में पतित होते हैं, अर्थात्

चिद्रूप से उसका विचार छोड़ देने से मूढ़ लोग गुणरूप संसार में विषम रूप में संसरण करते हैं। इसलिए नित्य ही आत्मा का चिद्रूप से चिन्तन करते रहना चाहिये ॥२०॥

साधन की सरलता बताना

श्लोक—अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्व विविक्तये ।
जाग्रदेव निजंभावमचिरेणाधि गच्छति ॥२१॥

अर्थ—अतः सतत् सर्वदा ही स्पन्दतत्त्व के स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उद्योग करते रहना चाहिये। जिससे वह जाग्रद् अवस्था में ही अपने आत्मा के तुर्य भोक्ता स्वभाव से उसकी इस प्रकार शीघ्र ही प्राप्ति हो जाती है ॥२१॥

दूसरा प्रकार

श्लोक—अति क्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वायत्पदं गच्छेतत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥२२॥

अर्थ—द्वेष के उत्कर्ष में, अथवा अत्यन्त हर्ष होने पर अथवा 'क्या करें क्या न करें?' इस विचार की अवस्था में यदि उस समय गुरु उपदेशानुसार सामान्य स्पन्द की अवस्था में उतरा जाय तो भी एकाग्रता के कारण उसमें आत्म लाभ प्राप्त होकर वह उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥२२॥

प्रबुद्ध दशा का वर्णन

श्लोक—यामवस्थां समालम्ब्ययदाऽयं ममवक्ष्यति ।
तद्वश्यंकरिष्येऽहमति सङ्कल्प्यतिष्ठति ॥२३॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोम-सूर्या वुभावपि ।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्ड गोचरम् ॥२४॥
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीन शशि-भास्करे ।
सौषुप्त पद वन्मूढ़ः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥२५॥

अर्थ—समान्य स्पन्दतत्त्व में अधिष्ठित होकर यदि कोई दृढ़ संकल्प से ऐसा निश्चय करता है कि वह इस स्पन्दतत्त्व में ही अपने को प्रतिष्ठित करेगा तो वह उसके ही आश्रय से शरीर में सोम-सूर्य प्रतीक रूप इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों को मध्य नाड़ी सुषुम्ना में अस्त करके शरीर मार्ग, यानी जगत् में

आवागमन का साधन जो शरीर है उसके प्रवाह को छोड़कर ऊर्ध मार्ग से ब्रह्म भाव में प्रवेश कर जाता है । क्योंकि ऊपर १६वें श्लोक में बताया है कि सामान्य स्पन्द ही लोक और परलोक, अर्थात् गुण स्पन्द और ब्रह्म तत्त्व दोनों का समान रूप से निरविरोध आधार है । इसलिये उस महाव्योम में जब प्रत्यय ज्ञान स्थगित हो जाता है जिसके हेतु ही शशि और भास्कर हैं । क्योंकि यह शशि और भास्कर का स्वभाव ही इस द्वैत के ज्ञान रूप में व्यक्त होता है इसलिये इनके अस्त हो जाने से जब वह सम्यक् वृत्ति में स्थित होकर जो स्वप्नादि में मोहित करने वाली वृत्ति है, जब उसका निरोध हो जाता है तो वह फिर जो अनावृत रूप प्रबुद्ध दशा है उसे प्राप्त हो जाता है ॥२३-२४-२५॥

इति स्वरूपस्पन्दः प्रथमनिष्पन्दः ।
अथ सहजविद्योदयाख्य द्वितीयनिष्यन्दः ॥

विद्या या शक्ति का मार्ग

श्लोक—तदाक्रम्यबलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्ते ऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥२६॥

अर्थ—उसके (मन्त्र) बल से वह निरावरण चिद्रूप में प्रतिष्ठित होकर मनन रूप सर्वज्ञादि बल से युक्त प्रशंसित होने पर अनुग्रहादि व्यवहार करता है, अर्थात् अनुग्रह-शापादि उसके अधिकार में होते हैं । जैसे उसका अधिकार अपनी इन्द्रियों पर होता है उसी प्रकार वह शाप और अनुग्रह में समर्थ होता है ॥२६॥

साध्य का स्वरूप

श्लोक—तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सहसाधक चित्तेन तेनैते शिव धर्मिणाः ॥२७॥

अर्थ—तब वह स्व-स्वभाव व्योम में निवृत्त रूप स्थित होकर उस शान्त निरञ्जन रूप में लीन हो जाता है, अर्थात् अपने साधक चित्त से माया के मोह से मुक्त होकर या अस्त होकर शिवधर्मा उसका स्वरूप हो जाता है ॥२७॥

जीव का स्वरूप

श्लोक—यस्मात्सर्वमयोजीवः सर्वभाव समुद्भवः ।
तत्संवेदन रूपेण तादात्म्य प्रतिपत्तितः ॥२८॥

तेन शब्दार्थचिन्तासुन साऽवस्थानयः शिवः ।
भोक्तैव भोग्य भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार यह जीव सर्वमय है । उसी से सारे भावों का उदय होता है तथा वह जितना भी बाहर अनुभूयमान पदार्थ है वह शरीर के द्वारा ग्रहण करता है और अनुभव का द्वार होकर संवेदन रूप से तादात्म प्राप्त किये हुए है । इसलिये इस प्रकार वह सर्वात्म स्वभाव से शब्द और अर्थ के विचार में उसकी ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो उसके शिव भाव से व्यक्त न हो । अतः भोक्ता ही भोग्य भाव से सर्वत्र स्थित है, भोग्य उससे कोई अन्य नहीं है ॥२८-२६॥

विज्ञान के ज्ञान का फल

श्लोक—इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन्सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार यह सारा जगत् उसी की संविद या चिद्-शक्ति का ही खेल है । जो इस प्रकार सब से युक्त होकर क्रीड़ा रूप से देखता है वह नित्य युक्त होने के कारण ईश्वर के समान मुक्त ही है, उसको शरीर का कोई बन्धन नहीं होता है, यह निश्चय ही सत्य है ॥३०॥

मन्त्र साधन का रहस्य

श्लोक—अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायि चेतसि ।
तदात्मता समापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार संविद् के द्वारा साधक अपने ध्येय को न्यास और मन्त्र के द्वारा चिद्रूप से प्रगट करके उसके साथ तादात्म प्राप्त करता है और मन्त्र-देवता और साधक की एकात्मता मन्त्रोच्चारण काल में ही सम्पादन कर लेता है ॥३१॥

मन्त्र साधन से प्राप्त फल

श्लोक—इय मेवाऽमृत प्राप्तिरय मेवाऽऽत्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाण दीक्षा च शिव सद्भाव दायिनी ॥३२॥

अर्थ—यह साधक की अमृतत्व प्राप्ति मिथ्या ज्ञान-शून्य निरावरण स्वस्वरूप संविद् ही है, जो मन्त्रोच्चारण मात्र के अभ्यास से आत्मतत्त्व की

प्राप्ति करा देती है । यह कोई स्थूल वस्तु का आदान-प्रदान नहीं है, यह तो गुरु से दीक्षा काल में ही अमृत रूप से प्राप्त होती है, इसलिये इसे निर्वाण दीक्षा कहा है । यह परम शिव के स्वरूप को व्यक्त करने वाली तथा शिवत्त्व सद्भाव को देने वाली दीक्षा है जिससे साधक स्वयं ही मुक्ति का अनुभव कर लेता है ।।३२।।

इति सहजविद्योदय द्वितीयनिःष्पन्दः ।।

अथ विभूतिस्पन्द तृतीय निःष्पन्द ।

जाग्रत में विभूति-प्राप्ति की योग्यता का रूप

श्लोक—यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान्हृदि स्थितान् ।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ।।३३।।

अर्थ—अपने स्वरूप को प्राप्त योगी जब संङ्कल्प-सिद्ध हो जाता है तो यदि वह अपने हृदयस्थ अर्थों को जाग्रत् में प्रगट करना चाहता है तब इच्छानुसार धाता रूप से सोम-सूर्य के आलोक में करता हुआ दर्शनादि इन्द्रियों से इच्छानुसार शरीरों का निर्माण करके इच्छानुसार अर्थों को प्रगट कर लेता है ।।३३।।

स्वप्न में

श्लोक—तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान्प्रणयस्यानतिक्रमात् ।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थित वद्य ं प्रकाशयेत् ।।३४।।

अर्थ—इसी प्रकार स्वप्न में भी अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए ही अपने हृदयस्थ भावों को अपने में ही अनेक रूप से प्रकाशित करता है । यानी स्वप्न में भी वह इच्छानुसार सृष्टि करने में समर्थ है, उसे तम का आवरण नहीं होता ।।३४।।

सामान्य मनुष्य और सिद्ध योगी का भेद

श्लोक—अन्यथा तु स्वतन्त्रास्यात्सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्न पद द्वये ।।३५।।

अर्थ—यदि उसे भी तम का आवरण रहे तो जैसे सर्वसाधारण को आल-विड़ाल दर्शन रूप, अर्थात् व्यवस्थारहित स्वप्न होता है, उसे भी होगा तथा वह फिर स्वतंत्र रूप से धाता के भाव में स्थित न हो सकेगा और अपने हृदय

भावों या अर्थों को प्रगट न कर सकेगा। तथा जैसा लोक में इन जाग्रत् और स्वप्न पदों में सबको होता है उसी प्रकार उसे भी होगा ॥३५॥

साधन की प्रशंसा

श्लोक—यथाह्यऽर्थोऽस्फुटोदृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योग भावितः ॥३६॥
तथा यत् परमार्थेन येन यत्र यदा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात्सम्प्रवर्तते ॥३७॥

अर्थ—सावधान चित्त रहने पर भी अर्थों का ज्ञान जैसे अस्फुट, यानी स्पष्ट नहीं होता है, परन्तु अपने उद्योग-बल के प्रयत्न द्वारा सब स्पष्ट हो जाता है, जैसे दूर स्थित किन्ही अर्थों का ज्ञान पुरुष को सावधान रहने पर भी स्पष्ट नहीं होता है तो एक विशेष प्रयत्न से उन अर्थों का ज्ञान पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, इसी प्रकार परमार्थ मे भी जो वस्तु जहां स्थित है, यानी जिस देश, काल और आकार में स्थित होती है एक विशेष प्रयत्न से अपने पूरे बल का प्रयोग करने पर वह वस्तु अपने उसी स्वरूप के आश्रय से तत्काल ही प्रतिभासित हो जाती है, क्योंकि उसका अपना स्वरूप आवरणरहित है तथा उसका अतीत और अनागत ज्ञान परिमित विषय है इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥३६-३७॥

उत्साह से लक्ष प्राप्ति

श्लोक—दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते ।
आच्छादयेद्बुभुक्षां च तथा योऽति बुभुक्षितः ॥३८॥

अर्थ—उत्साह और प्रयत्न के द्वारा दुर्बल भी आगे बढ़ जाता है और साहस से कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। अशक्त भी व्यायाम के अभ्यास से महान् शक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार स्वभाव के अनुशीलन से, यानी अनुसरण से भूखा भी भूख को आच्छादित कर लेता है। इसी प्रकार सर्वत्र ही आत्मस्वरूप के कार्य-कारण सम्पादन में वह समर्थ हो जाता है ॥३८॥

सिद्ध योगी की सामर्थ्य

श्लोक—अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्सर्वत्रैवं भविष्यति ॥३९॥

अर्थ—इसी प्रकार अपने आत्मस्वभाव में स्थित हो जाने पर शरीर में रहते हुए ही वह सर्वज्ञ हो जाता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तु के आहार-बिहार को जान लेता है तथा सर्वत्र ही व्यापक हो जाता है ॥३९॥

अज्ञान का स्वरूप

श्लोक—ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाऽज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेष विलुप्तं चेत् कुतः सास्याद हेतुका ॥४०॥

अर्थ—ग्लानि, क्षय या बीमारी, अर्थात् अपने को आत्मस्वरूप न मानकर अल्प मानना ही ग्लानि या बीमारी है । यह ग्लानि अज्ञान से संसरित होने के कारण शरीर का नाश करती है । यदि आत्मस्वभाव का उन्मेष हो जाय तो अज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, तथा इस प्रकार ग्लानि का कारण न रहने से ग्लानि उत्पन्न ही नहीं होती है । इसी से योगियों के शरीर में ग्लानि के अभाव हो जाने पर शरीर बली पलित न होकर दृढ़ हो जाता है ॥४०॥

सामान्य स्पन्द का प्राप्ति-स्थल

श्लोक—एक चिन्ता प्रसक्तस्ययतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः सतुविज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥४१॥

अर्थ—एक विचार के चिन्तन काल में जब दूसरे विचार का तत्काल उदय हो जाता है तो उसका कारण उन्मेष होता है, अर्थात् दो विचारों के मध्य में जो अनुभव होने वाला भाव है, उसे ही उन्मेष कहते हैं ॥४१॥

श्लोक—अतोबिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तंते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥४२॥

अर्थ—इस उन्मेष के अनुशीलन से तेज रूप बिन्दू में नाद का उदय होकर अन्धकार में शब्द वाच्य प्रणब का दर्शन हो जाता है, उससे अमृतरस का स्वाद मुख में आ जाता है और इस क्षोभ के कारण तत्काल ही रस प्रवाहित हो जाता है ॥४२॥

स्पन्द के अभ्यास का फल

श्लोक—दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवाव बोत्स्यते ॥४३॥

अर्थ—देखने की इच्छा के भाव में स्थित होकर जब हम व्यापक होकर सारे भावों में स्थित हो जाते हैं, तब बहुत क्या कहा जाय, हम स्वयं ही तत्त्व स्वभाव से सब कुछ जान लेते हैं, अर्थात् ज्ञान स्वरूप हो जाते हैं ॥४३॥

बौद्धिक ज्ञान से पीड़ा मुक्त

श्लोक—प्रबुद्धः सर्वदातिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम् ।
एकत्राऽऽरोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥४४॥

अर्थ—प्रबुद्ध होकर वह सर्वदा के लिये ज्ञान रूप से स्थित होकर सारे विषयों की आलोचना करता है तथा सबको ज्ञान में ही विद्या रूप से आरोपित जानकर सद्भाव तत्त्व में स्थित होने से अन्य-अन्य भाव की पीड़ा से रहित हो जाता है और जिसे कला समुदाय कहते हैं उससे उसे कोई कष्ट अनुभव नहीं होता है ॥४४॥

मनुष्य को आशक्ति का कारण हो यह मातृका वर्ग का रूप

श्लोक—शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कला विलुप्त विभवोगतः सन्सपशुः स्मृतः ॥४५॥

अर्थ—अकार से क्षकार पर्यन्त जो शब्द समूह है उसी से उत्पन्न यह कादिवर्गात्मक भूत समुदाय है। यही शक्ति समूह बाह्य भोग्य का स्वरूप है। इस भोग्य समुदाय रूप शक्ति के वशीभूत पुरुष ककारादि अक्षरों की कलाओं में विलुप्त होकर अपनी महत्ता खोकर स्वभाव से च्युत हो जाता है और शिवत्व से पशुत्व भाव को प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

उसका परिणाम

श्लोक—परामृत रसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनाऽस्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्र गोचरः ॥४६॥

अर्थ—परा अमृत रस से दूर हो जाने पर जिस प्रत्यय का उदय होता है उससे पुरुष बन्धन कारक तन्मात्राओं का अनुभव करता है और परतन्त्र होकर अल्पाहंता भाव से स्थित हो जाता है। इस प्रत्यय से रूपादि अभिलाषा वाली तन्मात्राओं का अनुभव होता है जिससे पुरुष अपने स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाता है ॥४६॥

श्लोक—स्वरूपावरणेचास्य शक्तयः सततोद्यताः ।
यतः शब्दानुबेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥४७॥

अर्थ—उसके स्वरूप के आवृत हो जाने पर उससे बाह्य रूप में सतत् ही शक्ति का उदय होने लगता है । इसी से उस शब्दरहित ज्ञान का उदय नहीं होता है तथा शब्द के बेध किये बिना उस ज्ञान का उदय नहीं होता है ॥४७॥

क्रिया या स्पन्द स्वरूप

श्लोक—सेयं क्रियात्मिका शक्ति शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥४८॥

अर्थ—यह पशु भाव से वर्तने वाली शक्ति ही भगवान् का क्रियात्मक स्वभाव है । यह स्वभाव से ही बन्धन का कारण है अथवा अज्ञात रहने पर बन्धन का कारण है, तथा ज्ञात होने पर परात्पर सिद्धिप्रद है । शिव की शक्ति ही परा और अपरा भावों में विद्यमान है जिनमें जीव-शक्ति प्रवर्तित नहीं होती है । तथा इन परा और अपरा भावों में जो शिव शक्ति रूप से व्यापक है उसका कोई अधिष्ठान नहीं है, अर्थात् जीव-शक्ति से उसका स्वरूप स्वतन्त्र है । इसलिये वह अज्ञात रहने के कारण बन्ध का हेतु है, ज्ञात होने पर परात्पर सिद्धिप्रद है ॥४८॥

बन्धन का कारण

श्लोक—तन्मात्रोदयरूपेण मनोहम्बुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ॥४९॥
भुङ्क्ते परवशो भोगं तद् भावात्संसरेदतः ।
संसृति-प्रलयस्याऽस्य कारणं स प्रचक्ष्महे ॥५०॥

अर्थ—शब्दादि तन्मात्राओं का अनुभव रूप से उदय होने पर मन, अहंकार, बुद्धि का उदय होकर वह पुरुष पराविमर्श से उत्पन्न पुर्यष्टक (पंच प्राण, मन, बुद्धि अहंकार) से बद्ध हो जाता है, जिससे सुख-दुःख संवेदन का उदय होता है । इसी से परवश हुआ यह सुख-दुःख संवेदन रूप भोगों को भोगता है और उसका पुर्यष्टक संसार में शरीर रूप से संसरण करता है और इस संसरण में वह संसृति प्रलय के जन्म-मरण प्रवाह रूप में संसार के विनाश के कारण को देखता है और कहता है ॥४९-५०॥

बन्धन मुक्त शिव रूपता का भाव

श्लोक—पदात्वेकत्व संरुढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन्भोक्तृ तामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥५१॥

अर्थ—परन्तु स्थूल और सूक्ष्म में लीन चित्त जब एकत्व भाव में आरुढ़ हो जाता है तो उसके उस उदय और लय भाव के नष्ट हो जाने पर वह पुरुष भोक्ता भाव को प्राप्त हो जाता है और तब वह चक्रेश्वर होकर सबका अधिपति हो जाता है ॥५१॥

गुरु वन्दना

श्लोक—अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरण तारणीम् ।
बन्दे विचित्रार्थपदां चित्रांतां गुरु भारतीम् ॥५२॥

अर्थ—जो अगाध संशय रूप सागर है उससे तारने वाली नौका रूप जो गुरु भारती है उसकी हम वन्दना करते हैं वह विचित्रार्थ पदों से चित्रित स्वरूप है ॥५२॥

B